नवउदारवाद के बाद का सिनेमा: हिन्दी फिल्मों में राजनीतिक विमर्श की पुनर्संरचना

गौरव शुक्ल
शोध छात्र, डिपार्टमेंट ऑफ जर्नलिज़्म एण्ड मास कम्युनिकेशन, स्कूल ऑफ मीडिया
स्टडीज एण्ड ह्यूमैनिटीज, मानव रचना इंटरनेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ रिसर्च एण्ड स्टडीज
डॉ राहुल जोशी
असिस्टेंट प्रोफेसर, डिपार्टमेंट ऑफ जर्नलिज़्म एण्ड मास कम्युनिकेशन, स्कूल ऑफ मीडिया
स्टडीज एण्ड ह्यूमैनिटीज, मानव रचना इंटरनेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ रिसर्च एण्ड स्टडीज

शोध सारांश

भारत के हिन्दी सिनेमा में इसकी स्थापना के बाद ही एक औद्योगिक संस्था बनने की पूरी संभावनाएं थी जो कुछ ही समय में दिखने लगी। सामाजिक और राजनीतिक सरोकार वाली फिल्मों को बनाते हुए यह धीरे धीरे एक व्यवसायिक उत्पाद में बदल कर रह गया। यहाँ बनने वाली राजनीतिक रूप से सशक्त फिल्मों को 1990 के बाद आये उदारवाद ने किस तरह बदला और इसके चलते हिन्दी फिल्म जगत में किस तरह से कथ्य और अन्य परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, इस शोध के द्वारा इसी को जानने की कोशिश की गई है। इस शोध पत्र के माध्यम से हिन्दी सिनेमा में उदारवाद और उसके प्रभावों का एक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इसके माध्यम से यह जानने की कोशिश की गयी है कि हिन्दी सिनेमा में बनने वाली राजनीतिक फिल्मों में किस तरह की गिरावट आई है और आज उसके सामने किस तरह की चुनौतियाँ है। आज राजनीतिक विषय वाली फिल्मों को लोग प्रोपैगंडा कहकर ख़ारिज कर रहे हैं। तो अब किस तरह से इन विषयों को लोगों के सामने रखा जाये, यह शोध पत्र उसकी भी एक पड़ताल करता है।
कीवर्ड: हिन्दी फिल्म, उदारवाद, आर्थिक नीति, राजनीतिक सिनेमा

प्रस्तावना

90 के दशक में भारत में बेहद महत्वपूर्ण नीतिगत परिवर्तन हुए और इन्होने देश के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया. विश्व भर में चल रहे विभिन्न घटनाक्रमों ने इनकी नीव रखी, जिनमे सोवियत संघ के विघटन से लेकर खाड़ी युद्ध तक शामिल हैं। इन घटनाओं ने वैश्विक स्तर पर नए उपादानों को जन्म दिया। पिछले कई दशकों से जारी समाजवाद और पूंजीवाद के मध्य का वैचारिक संघर्ष अब नए स्वरुप में सामने आ रहा था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद अमेरिका और यूरोप में आई आर्थिक मंदी ने पूंजीवादी विद्वानों को नए सिरे से सोचने पर मजबूर कर दिया। पूँजी के राज्य नियंत्रण की भी बात अब होने लगी जो कि समाजवादी व्यवस्था थी। लेकिन कुछ विद्वानों ने पिछले लम्बे समय से चली आ रही अवधारणाओं और विचारों को पुनर्परिभाषित किया और इसके लिए शास्त्रीय पूंजीवाद के सिद्धांतों से ही नई वैचारिक स्थापनाएं प्रस्तुत की गईं यह नवउदारवाद का जन्म था जिसने विकसित देशों को विश्व की अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करने की शक्ति दी।

मिल्टन फ्रीडमैन, कार्ल पापर जैसे विद्वानों ने इस नव उदारवादी व्यवस्था को परिभाषित किया और इसे दुनिया भर देशों में स्थापित करने का प्रयास किया जाने लगा। विकसित एवं विकासशील देशों ने इस व्यवस्था को अपनाना शुरू कर दिया।

70 के दशक में नव उदारवाद दुनिया भर के देशों विशेषकर लैटिन अमेरिका और एशिया में अपने पाँव पसारने लगा था. 90 का दशक आते आते दुनिया में समाजवादी अर्थ व्यवस्था बाजारवाद पर आधारित होने लगी थी और सोवियत संघ के विघटन ने तो इसे और तेजी प्रदान कर दी। भारतीय सन्दर्भ में, नवउदारवादी नीतियाँ उस समय प्रभावी हुईं जब देश आर्थिक संकट से जूझ रहा था। इसके फलस्वरूप, 1991 में तत्कालीन प्रधानमंत्री पी. वी. नरसिम्हा राव और वित्त मंत्री डॉ. मनमोहन सिंह के नेतृत्व में उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण

की नीतियों को लागू किया गया (चंद्रशेखर और घोष, 2002)। इन नीतियों ने भारत के पारंपरिक समाजवादी ढांचे को धीरे-धीरे बाजारवादी संरचना में रूपांतरित करना प्रारंभ किया। भारत जैसे विकासशील राष्ट्र और डेनमार्क जैसे यूरोपीय विकसित राष्ट्रों ने भी इसी बाजार आधारित नव उदारवाद को अपनाना शुरू कर दिया। अपने संविधान में समाजवाद पर आस्था जताने वाला भारत भी नव उदारवादी नीतियों को अपनाने पर मजबूर हो गया क्योंकि वैश्विक स्तर पर बंद अर्थव्यवस्था के कोई मायने नही रहने वाले थे। मनमोहन सिंह और पी.वी. नरसिम्हा राव के नेतृत्व में भारत ने अपनी अर्थ नीतियों में व्यापक बदलाव शुरू कर दिए। यही से हमारे देश में भी नव उदारवादी अर्थ नीतियों का निर्माण शुरू हो गया जो मुख्यतः बाजार को ध्यान में रख कर बनाई जा रही थीं। अब भारत दुनिया के लिए सबसे बड़े बाज़ारों में से एक था जहाँ दुनिया भर की कम्पनियाँ अपने उत्पाद बेच सकती थीं।

इसी नव उदारवाद के चलते बनी नई नीतियों से भारत के सिनेमा जगत में व्यापक परिवर्तन होना शुरू हुआ। 90 के दशक में हुए ये नीतिगत और संस्थागत परिवर्तनों ने फिल्म निर्माण को एक तरफ जहाँ नई गति प्रदान की वही फिल्मों के विषय और कथ्य में अब व्यापारिक दबाव भी दिखने लगा। अब फ़िल्में बाज़ार के दबाव में थीं और उन पर राजनैतिक पहरेदारी भी शुरू हो गयी थी। इसी दशक में हिन्दुत्ववादी राजनीति का तेजी से उठान हुआ और उसने देश की 'सभ्यता और संस्कृति' के नाम पर फिल्मों पर सवाल उठाने शुरू कर दिए। यह एक नए तरह की सेंसरशिप थी जिसे समाज का एक बड़ा तबका समर्थन दे रहा था। इसी के साथ ही राजनेताओं ने भी अपने हिसाब से इस प्रचलन को प्रश्रय दिया। उन्हें इसका राजनीतिक लाभ मिला और अब हिन्दी सिनेमा में सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को उठाने वाली फ़िल्में बनना या तो बंद हो गईं या उनके कथ्य में बदलाव आ गया। कथ्य, शैली और दर्शक वर्ग की प्राथमिकताएँ इस तरह बदलीं कि सिनेमा का प्रतिरोधात्मक स्वभाव धीरे-धीरे हाशिये पर चला गया (कुमार, 2013)

शोध उद्देश्य

1- भारत में उदारवादी अर्थव्यवस्था से किस तरह के आर्थिक और सामाजिक बदलाव सामने आये?

2- हिन्दी सिनेमा में उदारवादी अर्थ नीतियों का क्या मुख्य प्रभाव पड़ा?

3- राजनीतिक हिन्दी सिनेमा को इन नई अर्थ नीतियों ने किस तरह से प्रभावित किया?

4- क्या भारत में अब राजनीतिक सिनेमा केवल सत्ता के साथ खड़ा दिखाई देता है अथवा उसने प्रतिरोध का कोई नया स्वरुप अख्तियार किया है?

शोध प्रविधि

इस शोध में गुणात्मक शोध प्रविधि का प्रयोग किया गया है, जो सामाजिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक विमर्शों की गहराई से व्याख्या करने के लिए सबसे उपयुक्त मानी जाती है।

इस शोध का उद्देश्य किसी विशेष परिघटना—यहाँ नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के प्रभाव में हिन्दी राजनीतिक सिनेमा के कथ्य, स्वरूप और वैचारिक दिशा में आए परिवर्तनों—को समझना है। अतः वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक दोनों दृष्टिकोणों को अपनाया गया है।

- यह शोध अवधारणात्मक और आलोचनात्मक प्रकृति का है।
- इसमें सांस्कृतिक अध्ययन तथा विचारधारात्मक विश्लेषण की प्रविधियों का सहारा लिया गया है, जो मीडिया और सिनेमा के पाठ की सामाजिक, राजनीतिक और वैचारिक व्याख्या में सहायक होती हैं।

डेटा स्रोत

- यह अध्ययन मुख्यतः द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है।
- विश्लेषण के लिए निम्नलिखित प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया:

- हिन्दी और अंग्रेज़ी में प्रकाशित शोध लेख, पुस्तकें, जर्नल आर्टिकल्स
- चुनिंदा हिन्दी फ़िल्मों के दृश्यात्मक और कथात्मक विश्लेषण
- साक्षात्कार, समीक्षाएँ, और मीडिया विश्लेषण

भारत में नव उदारवाद का उदय

आज़ादी के बाद भारत ने एक मिश्रित अर्थव्यवस्था का स्वरुप ग्रहण किया, लेकिन इसके केन्द्र में समाजवादी विचार प्रमुख थे। यह नीति इस विचार पर आधारित थी कि राज्य को आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण रखना चाहिए जिससे कि आर्थिक असमानता को नियंत्रित किया जा सके और आत्मनिर्भरता को बढ़ावा दिया जा सके। पंडित नेहरू के नेतृत्व में योजनाबद्ध विकास की प्रणाली अपनाई गई और सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियाँ स्थापित की गईं। विदेशी निवेश को नियंत्रित किया गया और निजी क्षेत्र को सीमित किया गया, ताकि स्वदेशी उद्यमिता को बल मिल सके। इसके चलते तत्कालीन सरकारों ने विदेशी कंपनियों को यहाँ मुक्त व्यापार की अनुमति नही दी। इसके पीछे प्रमुख कारण यह था कि सरकारें यह चाहती थी कि भारत के स्थानीय व्यापारियों और उद्योगपतियों को स्वयं को स्थापित करने का मौका मिल सके। किन 1980 के दशक के उत्तरार्ध तक यह मॉडल कई चुनौतियों से जूझ रहा था—राजकोषीय घाटा बढ़ता जा रहा था, विदेशी मुद्रा भंडार न्यूनतम स्तर पर पहुँच चुका था, और भारत को अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। 1991 में नरसिम्हा राव सरकार ने डॉ मनमोहन सिंह के नेतृत्व में नई आर्थिक नीतियों को लागू करना शुरू किया। इसके बाद भारत में बहुत तेजी से विदेशी कंपनियों ने खुद को स्थापित करना शुरू कर दिया। यही वह समय था जब भारत में सिनेमा, दूरसंचार, जैसे क्षेत्रों में एक नई क्रांति शुरू हुई। इसी के साथ ही भारत में नव उदारवादी अर्थतंत्र ने अपना प्रभुत्व स्थापित करना शुरू किया।

भारतीय रिजर्व बैंक के तत्कालीन गवर्नर सी.के. रंगराजन ने इन नई आर्थिक नीतियों को परिभाषित करते हुए कहा कि

"1991 में शुरू की गयी नई आर्थिक नीति में विभिन्न नीतिगत उपायों और बदलावों को शामिल किया गया है. इन सभी उपायों का एक सूत्री लक्ष्य है कि अधिक नियंत्रित, ज्यादा बेहतर क्षमता और यहाँ तक की कम प्रतिस्पर्धा वाले निजी क्षेत्र में भी एक सुविधाजनक तंत्र का निर्माण हो सके"

नव उदारवाद के उदय को, व्यापारिक विचारधारा और विपणन की दृष्टि से देखा गया जिससे उत्पादन और वितरण की ढांचे भी बदल गए। नए उद्यमों का उदय हुआ और नए बजट और वित्तीय संस्थान उत्पन्न हुए। इस बदलाव ने भारतीय सिनेमा पर भी असर डाला, जहां नवीनतम प्रौद्योगिकी और निवेश के माध्यम से फिल्म निर्माण और प्रचार का स्वरुप परिवर्तित हुआ। विभिन्न स्थानों पर मल्टीप्लेक्स खुले, नई वित्तीय मॉडल और संगठनीयकरण के साथ, बड़े प्रोडक्शन हाउसेज के आगमन और विदेशी निवेश ने फिल्म उद्योग को परिवर्तित किया।

नव उदारवाद के सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभाव:

भारत के आर्थिक सुधार अर्थव्यवस्था को नई दिशा देने वाले नवीनीकरण की प्रक्रिया को आरम्भ करने के रूप में मान्यता प्राप्त करते हैं। भारत की इस उदारीकरण की नीति से विभिन्न सकारात्मक आर्थिक एवं जनसांख्यिकीय परिवर्तन हुए। भारत में सकल राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय आय में तेजी से वृद्धि हुई, इसके साथ ही अंतर्राष्ट्रीय आयात एवं निर्यात में अधिक हिस्सेदारी, घरेलू एवं विदेशी निवेश में बढ़ोत्तरी, सूचना प्रौद्योगिकी में क्रांति हुई। साक्षरता दर, महिला साक्षरता, जीवन प्रत्याशा, महिलाओ की श्रम में भागीदारी जैसे संयुक्त राष्ट्र द्वारा निर्धारित विकास के सूचकांक के कारको में वृद्धि हुई।

इन नई आर्थिक नीतियों से भारत में एक नए मध्य वर्ग का उदय हुआ जो भारत के छोटे शहरों में रहता था। निजी क्षेत्र में हुए विदेशी निवेश के कारण रोजगार में तेजी से बढ़ोत्तरी हुई और इसने भारत में नए बाज़ार को पैदा किया जो अब तेजी से उपभोक्ता वर्ग में बदल रहा था। इस नए मिडिल क्लास को परिभाषित करते हुए लीला फर्नांडिस (2006:30) कहती हैं

"यह भारत के सामाजिक सांस्कृतिक नायक से एक प्रतिबद्ध उदारवादी राष्ट्र में बदलने का प्रतिनिधित्व करता है". वह उन उपनगरीय प्रस्थापनाओं की तरफ भी ध्यानाकर्षण करवाती हैं जो नई स्थानिक पुनर्गठन से विकसित हो रही हैं और सार्वजनिक स्थानों से गरीबी के दृश्यों को पूरी तरह ख़त्म कर देना चाहती है."

इस विकास ने आम जनता को और खासकर गरीब वर्ग को आर्थिक विकास के लाभ से युक्त किया। इसके साथ इसने समाज में परिवारों को विकेंद्रीकृत कर दिया। अब बड़ी संख्या में पढ़ा लिखा युवा तेजी से बढ़ते शहरों की ओर जा रहा था और अपने परिवार से दूर अपनी जिंदगी गुजारना शुरू कर रहा था जो कि भारतीय दृष्टिकोण से एक नई परिघटना थी। इसने भारतीय समाज की संस्कार और मूल्य व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन किया. लोग जाति और धर्म के बंधन से मुक्त होकर सोचना शुरू करने लगे। लेकिन एक पूंजीवादी समाज में दक्षिणपंथी विचार अधिक तेजी से जगह बनाते हैं। भारत में भी 90 के दशक में यही हुआ और राममंदिर आन्दोलन और उसके बाद लगातार बदलते सामाजिक कारकों में ये दृष्टिगोचर होता है।

भारतीय हिन्दी सिनेमा पर उदारवाद का प्रभाव

भारत के मीडिया जगत में 1991 के बाद तेजी से बदलाव आये. एक तरफ जहाँ स्टार टीवी और सीएनएन जैसे विदेशी चैनलों ने यहाँ अपने प्रसारण शुरू कर दिए, वही केबल प्रसारण और सेटेलाइट के जरिये नए चैनलों के आने से प्रतिस्पर्धा काफी ज्यादा बढ़ गई। भारत सरकार की "मुक्त आकाश नीति" ने केवल भारतीय ही नही बल्कि विदेशी चैनलों को भी एक बहुत बड़ा बाजार उपलब्ध करवा दिया। इसी के साथ अब विदेशी फिल्मों को भी यहाँ के सेटेलाइट चैनलों पर प्रसारित किया जाने लगा। जुरासिक पार्क और टाइटैनिक जैसी फिल्मों को यहाँ सिनेमाघरों में रिलीज़ किया गया। अब फिल्म निर्माताओं पर यह दबाव बढ़ने लगा कि उन्हें बाज़ार के हिसाब से फिल्म बनानी है।

इसी के साथ हिन्दी फिल्मों में एक नया दौर शुरू हुआ जिसके विषय भारतीय मध्य वर्ग को आकर्षित करें। अब निर्देशक हिंसा और रोमांस के सहारे ही फ़िल्में बनाने लगे। इसी दशक में आदित्य चोपड़ा की 'दिलवाले दुल्हनिया ले जाएंगे' (1995) यश चोपड़ा की 'दिल तो पागल है'(1997) करण जौहर की 'कुछ कुछ होता है' (1998) जैसी सुपरहिट रोमांटिक फिल्मों का निर्माण हुआ वही दूसरी ओर तेजा (1990), नरसिम्हा (1991), अधर्म (1992), विश्वात्मा (1992), घायल (1990), करन अर्जुन (1995) जैसी फ़िल्में भी बन रही थी। बाज़ार अब उन फिल्मों की ओर अधिक देख रहा था जो दर्शकों को सिनेमाघरों तक खींच सके. भारत का उभरता मध्यवर्ग अब एक उपभोक्तावादी समाज में बदलने लगा था।

इसी के साथ फिल्मों में एनआरआई संस्कृति को दिखाना शुरू किया गया। अब फिल्मों के विषय में ये प्रमुख तौर पर दिखने लगे. 60-70 के दशक में मनोज कुमार की पूरब और पश्चिम (1970), देवानंद की देस परदेश (1978) जैसी फिल्मों में ये विषय पहले से आ चुके थे, लेकिन आदित्य चोपड़ा, करन जौहर और सूरज बडजात्या जैसे निर्देशकों ने इस विषय को फिर से फिल्मों के केंद्रीय विषय के तौर पर स्थापित करना शुरू किया। यह भारत के मध्य वर्ग की विदेश जाने की लालसा का दोहन था जिसको वह फिल्म के परदे पर देख रहा था। अब निर्माता ऐसे ही विषयों पर फिल्मों बनाने को उत्साहित थे।

कोमल नाहटा , जो फिल्म व्यापार विश्लेषक हैं, लिखते हैं:

"1991 के बाद, हिन्दी फिल्म उद्योग में पूंजी प्रवाह की प्रकृति ही बदल गई। अब यह एक उद्योग के रूप में पंजीकृत होने लगा जहाँ लाभ, जोखिम, और ब्रांडिंग की भाषा प्रमुख हो गई।"

इसने राजनीतिक सिनेमा के जमीन को खाना शुरू कर दिया। अब निर्माता ऐसी फिल्मों पर पैसा नही लगाना चाहते थे जिसमें अघोषित सेंसरशिप का सामना करना पड़ सकता हो। राजनीतिक विषयों पर बनी फ़िल्में लोगो को चेतना संपन्न बना सकती है जो किसी मुद्दे पर

अपनी राय खुलकर व्यक्त कर सके और किसी भी सरकार को यह पसंद नही है कि जनता को बदलाव की ओर कोई प्रेरित करे. सरकारें यथास्थितिवादी होना पसंद करती हैं। इसीलिए सरकारी उपक्रमों जैसे एनएफडीसी आदि को धीरे धीरे संस्थागत रूप से खत्म किया जाने लगा जो स्वतंत्र फिल्म निर्देशकों को निवेश उपलब्ध करवाते थे। अब आपको बाज़ार के ही अधीन होकर फिल्म बनाने को मजबूर किया जाने लगा।

बी. डी. गार्गा लिखते हैं:

"एनएफडीसी का कमजोर पड़ना इस बात का संकेत है कि सरकार अब केवल उन्हीं फिल्मों को सहयोग देना चाहती है जिनसे बाज़ार और छवि निर्माण में मदद मिले।"

लेकिन इस दिशा में एक बड़ा बदलाव बाजार ने ही किया, जब भारत में मल्टीप्लेक्स खुलने शुरू हो गये। दिल्ली में पहला पीवीआर मल्टीप्लेक्स खुलने के साथ अब फिल्मों के व्यापार ने नया स्वरुप लेना शुरू कर दिया। भारत सरकार ने फिल्म उद्योग में अब 100% विदेशी निवेश की भी अनुमति दे दी है। इन सबके चलते अब उन फिल्मों को भी जगह मिलने लगी जिनके लिए पहले निर्देशक को ये लगता था कि इन्हें दर्शक ही नही मिलेंगे क्योंकि सिंगल स्क्रीन थिएटर में इनका रिलीज़ होना लगभग असंभव था और वितरक ऐसा जोखिम कभी नही लेना चाहते थे। अब इस वितरण की प्रक्रिया में ही पूरा बदलाव आ गया था। बड़े बड़े उद्योगपति स्वयं इस फिल्म वितरण के व्यवसाय में आ रहे थे और खुद कई फिल्म निर्माताओं ने खुद की वितरण कम्पनियाँ शुरू कर दी थी. अब यशराज, धर्मा, टी-सीरीज, यू टीवी मोशन आदि निर्माण और वितरण खुद करना शुरू कर चुके थे. इसके साथ ही सेटेलाइट केबल के जरिये भी अब फ़िल्में लोगों के घरों तक पहुँच रही थी। इन सब कारणों के चलते कम बजट की प्रयोगात्मक फ़िल्में बनना शुरू हो गई। नागेश कुकनूर, अनुराग कश्यप, सुधीर मिश्र, विशाल भारद्वाज, तिग्मांशु धुलिया जैसे निर्देशकों के लिए एक राह बनी।

भारत में राजनीतिक हिन्दी सिनेमा: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

हिन्दुस्तान का राजनैतिक सिनेमा नेहरु काल से मुख्यतः प्रारम्भ माना जाता है। लेकिन यह केवल कुछ अंशो में ही फिल्मों में प्रतिबिंबित होता है। स्वतंत्रता के पूर्व बनी फिल्मों में दासता से मुक्त होने और अंग्रेजो से संघर्ष की कहानी फिल्मों में भी दिखती है। हालांकि उस दौर में बनी अधिकांश फ़िल्में धार्मिक विषयों पर ही आधारित थी। इस दौर में हीर राँझा, लैला मजनू, बगदाद का चोर, अलिफ़ लैला जैसी फ़िल्में भी बनी। एक गुलाम देश में प्रतिरोध को सीधे तौर पर व्यक्त न करके उसे धर्म और रूमानियत के माध्यम से परदे पर एक आवाज देने की कोशिश की गई। यह औपनिवेशिक भारत की जनता को एक सूत्र में पिरोने के लिए प्रयास था। इसी दौर में इप्टा जैसी संस्था की स्थापना हुई और पूरे देश में महात्मा गाँधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता के लिए आन्दोलन चल रहा था।

राजाध्यक्ष और विलेमेन (1999) के अनुसार:

"औपनिवेशिक भारत में धार्मिक या ऐतिहासिक रूपकों के माध्यम से सामाजिक असंतोष व्यक्त करना एक लोकप्रिय सिनेमैटिक ट्रोपस बन चुका था।"

भारतीय हिन्दी सिनेमा पर इसका काफी असर पड़ा और यहाँ सामाजिक राजनीतिक स्वर फिल्मों में अब प्रतिबिंबित होने लगे। अछूत कन्या (1936), दुनिया न माने (1937), औरत (1940) जैसी फिल्मों में प्रतिरोध की संस्कृति दिखने लगी थी। भारतीय साहित्य से भी अब सिनेमा ने अब कहानियां लेना शुरू कर दिया था और इस बात ने सिनेमा में सामाजिक सच्चाई के स्वरुप को सामने रखना शुरू कर दिया। 1946 में चेतन आनंद की फिल्म 'नीचा नगर' रिलीज़ हुई। यह सामाजिक वास्तविकता पर आधारित फिल्म थी, इस फिल्म को कांस फिल्म फेस्टिवल में पुरस्कृत किया गया। 1953 में आई फिल्म दो बीघा जमीन जिसको विमल राय ने निर्देशित किया था। इस फिल्म ने व्यावसायिक तौर पर भी काफी सफलता अर्जित की। इसके अलावा गुरुदत्त की प्यासा भी 1957 में रिलीज़ हुई। इन दशको में निर्देशक संगीत में और नाच गाने में रची बसी फिल्मों से उबने लगे थे और देश में नवयथार्थ की एक लहर चल रही थी। बंगाल में सत्यजीत राय, मृणाल सेन, ऋत्विक घटक जैसे निर्देशक जहाँ इस पर काम कर रहे थे वही दक्षिण में अदूर गोपालाकृष्णन और गिरीश कासरवल्ली जैसे निर्देशक थे। यहाँ पर नव यथार्थ पर तो बात होने लगी थी।

गोविंद निहलानी की मान्यता है कि ***दर्शक को विश्वास में लेकर वस्तुस्थितियों पर उसे सोचने के लिए मजबूर कर देना राजनीतिक सिनेमा की खासियत होती है। और ऐसा करके वह समस्याओं को सुलझाने की जागरुकता जरूर पैदा कर सकती है।*** लेकिन हिन्दी सिने जगत अभी भी ऐसी फ़िल्में बनाने से हिचकिचा रहा था। कथ्य से लेकर व्यापार तक हिन्दी सिनेमा इस दौरान कई पड़ावों से गुजरा और इसी मध्य हिन्दी सिनेमा में मुख्यधारा के सिनेमा से अलग समानांतर सिनेमा का सूत्रपात हुआ l जिसकी विधिवत् शुरुआत मृणाल सेन की फिल्म 'भुवनशोम' से मानी जाती है l हालांकि 'भुवनशोम' (1969) से पहले भी हिन्दी सिनेमा में 'धरती के लाल', 'नीचा नगर', 'दो बीघा जमीन', 'मदर इंडिया', 'प्यासा', 'कागज के फूल', जैसी कई कालजयी व उत्कृष्ट फिल्मों का निर्माण हो चुका था परन्तु यथार्थपरक चित्रांकन के कारण 'भुवनशोम' के अतिरिक्त इस कालखंड में समानान्तर सिनेमा की प्रमुख फिल्में थीं- 'सत्यकाम', 'खामोशी', 'अंकुर', 'गर्म हवा', सारा आकाश', 'उसकी रोटी', 'दस्तक', 'अनुभव', '27 डाउन', 'निशांत', 'भूमिका', 'मृगया' और 'मंथन' l

समानान्तर सिनेमा में यथार्थ को सम्पूर्णता के साथ उकेरा गया था, इनमें सामाजिक समस्याओं के साथ-साथ राजनीति पर आधारित फिल्में भी थीं ।

राजनैतिक सिनेमा का पोस्ट-नेहरूवियन युग

समानांतर सिनेमा के आगमन के साथ ही हिन्दी सिनेमा में सत्ता के साथ एक संघर्ष की धारा का उदय हुआ जो धीरे धीरे मुखर होती चली गई। मुख्यधारा के सिनेमा में मनमोहन देसाई, प्रकाश मेहरा जैसे फिल्म निर्देशक अमिताभ के साथ एक एंग्री यंग मैन को पैदा करते हैं।

रेशल डवाएर (2006) इस परिवर्तन को चिन्हित करते हुए लिखती हैं:

"1970 और 80 के दशक में मुख्यधारा हिन्दी सिनेमा का कथ्य एक आदर्शवादी व्यवस्था से मोहभंग की ओर मुड़ा, लेकिन उसने राजनीतिक विश्लेषण को न अपनाकर, इसे व्यक्ति-केन्द्रित विद्रोह में रूपांतरित कर दिया।"

वही गुलज़ार, श्याम बेनेगल, गोविन्द निहलानी, मृणाल सेन जैसे फ़िल्मकार उन फिल्मों का निर्माण करते हैं जो यथार्थ और समाज की विद्रूप सच्चाई को सामने लेकर आता है। राजनीतिक विषयों के दृष्टिकोण से देखा जाये तो 'किस्सा कुर्सी का', 'आंधी' जैसी फ़िल्में तत्कालीन परिदृश्य को सामने रख रहीं थी। *अर्ध सत्य* (1983, गोविंद निहलानी) एक पुलिस अधिकारी की नैतिक विडंबना को दर्शाती है जो तंत्र की भ्रष्ट व्यवस्था से टकरा रहा है। *दामुल* (1985, प्रकाश झा) बिहार के बंधुआ मजदूरों की स्थिति और राजनीतिक-सामाजिक संरचना पर तीखा प्रहार करती है। यह वह दौर था जब फ़िल्में कार्पोरेट के दबाव से मुक्त थीं और उन पर बाज़ार का बहुत अधिक प्रभाव नही पड़ रहा था। टीनू आनंद की 'मै आजाद हूँ' जैसी राजनीतिक रूप से अत्यधिक शक्तिशाली फिल्म ने यह दिखाया कि इस दौर में निर्देशक ऐसे विषयों को अपनी फिल्मों में शामिल करने से नही घबराते।

भारत में आर्थिक उदारीकरण और उसके बाद का राजनीतिक सिनेमा

फिल्म जगत में 90 के दशक में बहुत तेजी से आर्थिक बदलाव हुए। भारत में शुरू हुई उदारीकरण की प्रक्रिया ने सिनेमा में विदेशी निवेश के रास्ते खोल दिए वहीँ खुले बाज़ार में प्रतिस्पर्धा को भी जगह मिल गयी। 1990 में रामगोपाल वर्मा ने 'शिवा' बनाई जो भारत में छात्र राजनीति पर बनी अपनी तरह की पहली फिल्म थी। 1994 में शेखर कपूर की 'बैंडिट क्वीन' में भी सत्ता और समाज के रिश्ते को जातिप्रथा के नजरिये से टटोलने की कोशिश की गई। इसी तरह 1996 में बनी 'माचिस' के जरिये गुलज़ार ने पंजाब के आतंकवाद के दौर को राजनीतिक रूप से समझने की कोशिश की. यह एक विडम्बना ही है कि इस उथल पुथल भरे दशक में राजनीतिक रूप से सशक्त हिन्दी फ़िल्में न के बराबर ही बनीं। महाश्वेता देवी के उपन्यास पर बनी 'हज़ार चौरासी की माँ' में गोविन्द निहलानी ने नक्सल आन्दोलन के राजनीतिक पहलुओं को एक मानवीय समझ से प्रस्तुत किया लेकिन फिल्म वाम आन्दोलन के रोमांटिसाइज्ड स्वरुप को ही पेश कर पाई। इसके पहले के दशक में में गोविन्द निहलानी ने 'अर्ध सत्य' जैसी फिल्मों के जरिये समाज के राजनीतिक अपराधिक गठजोड़ पर जोरदार

प्रहार किया था। इन सभी प्रयासों को एक तरह से उस देश के नजरिये से नाकाफी ही कहा जाएगा जहाँ पर राजनीतिक चर्चाएँ हर गली मोहल्ले में होती हों।

रेशल डवाएर (2006) फिर से बताती हैं:

"1990 के दशक में, राजनीतिक हिन्दी सिनेमा ने हिंसा और प्रतिरोध को एक निजी अनुभव के रूप में प्रस्तुत किया, जो नवउदारवादी व्यक्तिवाद के साथ एक दिलचस्प अंतर्विरोध बनाता है।"

तिग्मांशु धूलिया ने 2003 में 'हासिल' का निर्माण किया जिसमे छात्र राजनीति को नए सिरे से समझने की कोशिश हुई। इसी तरह की कोशिश अनुराग कश्यप ने 'गुलाल' के माध्यम से राजस्थान की राजशाही और छात्र राजनीति को एक काल्पनिक तरीके से लोगों दिखाया, जो एक तरह से आक्रोश से भरे युवा की कहानी लगती है जो लोकतंत्र और राजतन्त्र के मध्य फंस चुका है। भारतीय विश्वविद्यालयों में वाम राजनीति को दिखाती सुधीर मिश्रा की 'हजारो ख्वाहिशें ऐसी' 60 और 70 के दशक के वाम आन्दोलन और उससे हुए मोहभंग की एक कहानी है। प्रकाश झा ने अवश्य कुछ ऐसी फिल्मों का निर्माण किया जो भारतीय सत्ता तंत्र से सीधा सवाल करती हैं। उनकी 'राजनीति' जहाँ एक तरफ महाभारत की कहानी को आज के दौर के हिसाब से दिखाती है, वही 'गंगाजल' और 'अपहरण' सत्तातंत्र और अपराध के गठजोड़ को समाज के सामने रखती हैं। 'आरक्षण' में वह समाज में व्याप्त शैक्षिक भ्रष्टाचार की पोल खोलते हैं वही समाज के हाशिये पर पड़े लोगों की बात भी करते हैं जैसा उन्होंने 1985 में 'दामुल' में किया था। 'चक्रव्यूह' में नक्सली समस्या और सत्ता के उपयोग पर सवाल उठाते हैं। इसी दौर में रामगोपाल वर्मा 'सरकार' और 'सरकार राज' बनाते हैं जो सत्ता और अपराध के गठजोड़ पर बनी एक शानदार फिल्म मानी जाती है. इससे पहले 90 के दशक में रामगोपाल वर्मा 'शूल' और 'सत्या' के जरिये अपनी छाप छोड़ चुके हैं. गुलज़ार की 'हू तू तू' और मधुर भंडारकर की 'सत्ता' जैसी फिल्मों ने भी राजनीतिक सिनेमा को एक नया आयाम देने की कोशिश की।

इस पूरे दौर की में सिनेमा को एक तरफ जहाँ अंतर्राष्ट्रीय कम्पनियों का सहयोग मिलना शुरू हुआ, वही भारतीय दर्शक वर्ग में मल्टीप्लेक्स के आने से सीमित संसाधनों का उपयोग कर केवल एक खास दर्शक वर्ग के लिए बनने वाला सिनेमा भी लोगों तक पहुँच बनाने लगा। अनुषा रिज़वी की 'पीपली लाइव' एक ऐसी राजनीतिक फिल्म है जो मीडिया, सत्ता और समाज के रिश्तों पर अपने व्यंग्य के माध्यम से एक सटीक चोट करती है। श्याम बेनेगल ने 'वेलकम टू सज्जनपुर' और 'वेलडन अब्बा' के माध्यम से राजनीतिक व्यंग्य प्रस्तुत किया था। राज्यसभा सदस्य रह चुके **श्याम बेनेगल** ने बी बी सी के साथ के बात चीत में कहा था कि, ***"हमारे देश में सेंसर काफ़ी संवेदनशील है। अगर हमने चाह कर एक राजनीतिक फ़िल्म बना भी ली तो सेंसर अपनी कैंची लिए खड़ा होगा। वो नहीं चाहते की किसी भी पार्टी या किसी भी समुदाय के मकसद और उनके दृष्टिकोण सिनेमा के परदे पर दिखा कर लोगों के विचारों को बदला जाए।"*** **(बीबीसी 2013)**

फिर क्या तरीक़ा है पॉलिटिकल फ़िल्में बनाने का? इस पर श्याम बेनेगल ने कहा, ***"देखो अगर ऐसी फ़िल्में बनानी ही हैं तो व्यंग्य और नौटंकी को साथ लेना पड़ेगा क्योकि यहां सीधे मुंह राजनीतिक सिनेमा बनाना और बेचना मुश्किल है। कोई भी प्रोड्यूसर ऐसे विषय पर पैसे डालने से पहले तीन बार सोचेगा और इसीलिए कोई यह जोखिम नहीं उठाता। ऐसा सिर्फ़ भारत में ही नहीं विश्व भर में है।"*** **(बीबीसी 2013)**

आने वाले फ़िल्मकारों की बात करते हुए श्याम बेनेगल कहा, ***"अगर किसी को पॉलिटिकल फ़िल्मों को बनाना है तो डाक्यूमेंट्री की तरह से बनाया जाए क्योंकि फ़ीचर फ़िल्म बनाने में ज़्यादा जोखिम है और डाक्यूमेंट्री बनाने से जिनको राजनीतिक सिनेमा के क्षेत्र में रुचि है वे देख पाएंगे।"*** **(बीबीसी 2013)**

उनकी इस बात को और अच्छी तरह से अगर समझना हो तो बीते दौर में आई कुछ फिल्मों को देख कर समझा जा सकता है। मद्रास कैफे, एन एक्सीडेंटल प्राइममिनिस्टर, ठाकरे, ताशकंद फाइल्स जैसी कुछ फ़िल्में बायोपिक अथवा एक डाक्युड्रामा की तरह बनाई गयी फ़िल्में हैं। इसी तरह 'शिप ऑफ़ थीसियस' जैसी दर्शन आधारित फिल्म बनाने वाले आनंद गाँधी ने जब राजनीतिक फिल्म बनाने की बात आई तो 'एन इनसिग्नीफिकेन्ट मैन' जैसी डाक्यूमेंट्री बनाई। वह स्वयं इस सम्बन्ध में कहते हैं कि '***"भारत में फ़िल्मकार का मतलब है जो आपका मनोरंजन करें, नाच गाने वाली फ़िल्में बनाए. यह इंसान अपनी फ़िल्मों के ज़रिए कभी एक पार्टी या एक समाज की***

गतिविधियों पर टिप्पणी या राय नहीं दे सकता। कई सालों से फ़िल्मों का मतलब ही मनोरंजन करना है। फिर पॉलिटिकल सिनेमा को कैसे जगह मिले?" (पीटीआई, 2017)

पीटीआई (2017) के अनुसार, आनंद गांधी कहते हैं, ***"कई भारतीय फ़िल्में पॉलिटिकल संवाद करने में सक्षम रहीं है। जैसे कई फ़िल्मों में बेरोज़गारी, महंगाई, भ्रष्टाचार आदि को दिखाया गया है.भारत में अगर कुछ सीखने का ज़रिया है तो वो है सिनेमा। पर मेरे ज़ेहन में ऐसी कोई पॉलिटिकल फ़िल्म नहीं है जो मुझे याद हो।"***

निष्कर्ष

भारत के आज के राजनीतिक सिनेमा की बात करते हुए जो ख्याल सबसे पहले आता है वो यह है कि आज फ़िल्में सत्ता और सत्ताधारी के नजरिये को पोषित करती नज़र आती हैं। प्रतिरोध का सिनेमा एक तरह से खत्म कर दिया गया है। आज देश में एक तरह से अघोषित सेंसरशिप है जो फिल्मों को अपने हिसाब से चलने दे रही है। 'पद्मावत' से लेकर 'पठान' तक हमने इसे देखा है। इस दौर में एक मुखर राजनीतिक फिल्म की उम्मीद बेमानी है और ऐसा पिछले दो दशकों से देखने में आ रहा है।

भारत में उदारवादी नीतियों के लागू होने के बाद लोगों के सामाजिक और आर्थिक जीवन में काफी तेजी से बदलाव आये। एक तरफ जहाँ एक नया मध्य वर्ग पैदा हुआ जो छोटे शहरों से बाहर निकल कर अपनी नई दुनिया बसा रहा था वही विश्व भर की बड़ी कंपनियों के आ जाने से सेवा और निर्माण क्षेत्र में तेजी से नौकरियां पैदा होने लगी। लोग अब निजी क्षेत्र को भी रोजगार के नजरिये से अपनाने लगे क्योंकि उस क्षेत्र में पैसा बहुत तेजी से बढ़ रहा था। शिक्षा में अब इंजीनियरिंग और मैनेजमेंट जैसे विषयों को पढने के लिए अब काफी संख्या में लोग आने लगे और 90 के दशक के उत्तरार्ध और 21वीं शताब्दी के शुरू के वर्षों में बहुत से कॉलेज और यूनिवर्सिटी खुल गयीं। लोगों की क्रय शक्ति में बढोत्तरी ने एक नया बाज़ार पैदा कर दिया।

इन नई अर्थ नीतियों से हिन्दी का सिने जगत भी बदलने लगा। अब फिल्म की दुनिया एक इंडस्ट्री के तौर पर संगठित होने लगी। इसी समय में एक तरफ जहाँ सरकारी सहयोग जैसे एनएफडीसी आदि हाशिये पर जाने लगे वहीँ कॉर्पोरेट जगत अपना पैसा फिल्म निर्माण में लगाने लगा। हालांकि इसी दौर में बम्बइया अंडरवर्ल्ड भी फिल्म जगत को प्रभावित करने लगा जिसका बड़ा कारण उसका खुद का निवेश और उसकी वसूली थी, जो बाद में अंतर्राष्ट्रीय निवेश आने से कम हो गया।

हिन्दी सिनेमा में अब छोटे बजट की अच्छे विषयों पर फ़िल्में बनने लगी। ऋषिकेश मुखर्जी के जैसा मध्यमार्गी सिनेमा फिर से वापिस लौट आया जो न तो बड़े स्टारकास्ट का मोहताज था और न ही बड़ी लोकेशन का। इसी दौर में रियलिस्टिक फिल्मों को भी बनाने का सिलसिला चल निकला जो केवल एक खास दर्शक वर्ग के लिए थीं। इसके पीछे में मल्टीप्लेक्स के जरिये फिल्म विपणन का होना था जिसने फिल्मों को बड़े पैमाने पर रिलीज करने का खर्चा ख़त्म कर दिया।

हालांकि इन नई अर्थ नीतियों के चलते हिन्दी सिनेमा में विषयों में बहुत ज्यादा बदलाव आया। अब फिल्मों में कॉर्पोरेट का दबाव अधिक दिखने लगा जिससे फिल्म निर्माता उन विषयों पर फिल्म बनाने में ज्यादा रूचि रखते जिनसे उनकी कमाई हो। इसके साथ प्रतिरोध का सिनेमा धीरे-धीरे ख़त्म होने लगा। कोई भी सत्ता ऐसी फिल्मों को नही पसंद करती जो उस पर सवाल उठायें. भारत में बहुसंख्यक की राजनीति ने समाज के विभिन्न वर्गों को हाशिये पर डाल दिया। 1992 के बाबरी मस्जिद विध्वंस के बाद मुंबई पर हुए सीरियल बम ब्लास्ट को लेकर जब अनुराग कश्यप ने 'ब्लैक फ्राइडे' बनाई तो उसको सेंसर बोर्ड ने सर्टिफिकेट देने से मना कर दिया और फिल्म काफी समय तक बैन रही। आखिर में काफी समय बाद यह बैन हटा और फिल्म रिलीज़ हो पाई लेकिन थिएटर में नही लगी। इस एक उदाहरण से यह स्पष्ट है कि भारत में राजनीतिक सिनेमा बनाना कितना ज्यादा कठिन हो चुका है। यही कारण है कि श्याम बेनेगल अब राजनीतिक व्यंग्य की ओर मुड़ गए थे और अनुराग कश्यप और विशाल भरद्वाज जैसे निर्देशक अपने स्तर पर कुछ कोशिश कर रहे हैं। अमित मसूरकर की 'न्यूटन' हालिया दौर में आई एक अच्छी राजनीतिक फिल्म कही जा सकती है। अन्यथा तो फ़िल्में सिर्फ एक विचारधारा को पोषित करने में लगी प्रोपैगंडा के अलावा कुछ अधिक नही दिखती।

अब प्रतिरोध का सिनेमा जैसा कुछ खास नज़र नही आता। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओँ में भले ही राजनीतिक सिनेमा थोड़ा सशक्त हो लेकिन हिन्दी सिनेमा तो इस मायने में अब बेहद कमजोर नज़र आता है। विशाल भारद्वाज की 'हैदर' कश्मीर समस्या को एक नए

नज़रिए से देखने की कोशिश करती है और सत्ता से सवाल करती है, लेकिन यह फिल्म बॉक्स ऑफिस पर फ्लॉप साबित हुई। इसके जरिये हम यह समझ सकते हैं कि आज के दौर में राजनीतिक हिन्दी सिनेमा सत्ता के साथ ही नही खड़ा है बल्कि उसके इशारे पर काम कर रहा है। कुछ गिनी चुनी सार्थक सिनेमा की फ़िल्में जो भी आती हैं वे बॉक्स ऑफिस पर असफल होती हैं और आखिरकार ओटीटी के माध्यम से ही लोगों तक पहुँच पा रही है। ओटीटी के आने के बाद अब फिल्म जगत में फिर से नए बदलाव देखने को मिल रहे हैं जिनको समझना अब अकादमिक जगत के लिए आवश्यक है। आने वाले दौर में केवल कथ्य और कहानी ही नहीं बल्कि विपणन के बाजार में भी बड़ा बदलाव आएगा और उम्मीद है कि फिर से राजनीतिक विषयों पर बना सार्थक हिन्दी सिनेमा दर्शकों तक अपनी पहुँच बनाएगा।

फिर भी, यह भी स्पष्ट होता है कि नवउदारवाद ने जहाँ मुख्यधारा को सीमित किया, वहीं ओटीटी प्लेटफॉर्म, मल्टीप्लेक्स संस्कृति, और वैकल्पिक फंडिंग स्रोतों ने राजनीतिक सिनेमा के लिए नए मार्ग भी खोले हैं। एक सीमित दर्शक वर्ग के लिए बनने वाले फ़िल्मों में अब भी राजनीतिक चेतना की संभावनाएँ बनी हुई हैं, जो कि भविष्य के लिए एक आशाजनक संकेत है।

इस शोध के निष्कर्ष यह भी इंगित करते हैं कि नवउदारवादी युग में भारतीय सिनेमा का अध्ययन अब केवल सौंदर्यशास्त्र या मनोरंजन की कसौटियों पर नहीं किया जा सकता, बल्कि इसके लिए राजनीतिक अर्थशास्त्र, संस्कृति अध्ययन और विचारधारात्मक विश्लेषण की अंतर्विषयी दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

संदर्भ सूची

1- चंद्रशेखर, सी. पी., एवं घोष, जयती। (2002)। *द मार्केट दैट फेल्ड: नियोलीबरल इकोनॉमिक रिफॉर्म्स इन इंडिया*। नई दिल्ली: लेफ़्टवर्ड बुक्स।

2- देशपांडे, सतीश। (2003)। *कन्टेम्पररी इंडिया: अ सोशियोलॉजिकल व्यू*। नई दिल्ली: वाइकिंग।

3- द्वायर, रेचल। (2006)। *फिल्मिंग द गॉड्स: रिलीजियन एंड इंडियन सिनेमा*। लंदन: रूटलेज।

4- फर्नांडिस, लीला। (2006)। *इंडियाज़ न्यू मिडल क्लास: डेमोक्रेटिक पॉलिटिक्स इन एन एरा ऑफ इकोनॉमिक रिफॉर्म*। मिनियापोलिस: यूनिवर्सिटी ऑफ मिनेसोटा प्रेस।

5- गर्ग, बी. डी। (2005)। *फ्रॉम राज टू स्वराज: द नॉन-फिक्शन फिल्म इन इंडिया*। नई दिल्ली: पेंगुइन बुक्स।

6- जाफरेलोट, क्रिस्टोफ़। (2007)। *इंडियाज़ साइलेंट रेवोल्यूशन: द राइज़ ऑफ द लोअर कास्ट्स इन नॉर्थ इंडिया*। नई दिल्ली: परमानेंट ब्लैक।

7- पीटीआई। (2017, 7 फ़रवरी)। *इट्स इम्पॉर्टेंट टू मेक पॉलिटिकल-थीम्ड फिल्म्स: आनंद गांधी*। बिज़नेस स्टैंडर्ड।

8- नाहटा, कोमल। (2003, 12 मार्च)। *इंडियन सिनेमा एंड मार्केट फोर्सेस*। इंडियन एक्सप्रेस।

9- बेनेगल, श्याम। (2013, 14 जनवरी)। *राजनीतिक सिनेमा और सेंसरशिप पर चर्चा*। बीबीसी हिन्दी। https://www.bbc.com/hindi/entertainment/2013/01/130114_shyam_benegal_interview_rv.shtml

10- राजाध्यक्ष, आशीष, एवं विलेमेन, पीटर। (1999)। *एन्साइक्लोपीडिया ऑफ इंडियन सिनेमा*। लंदन: ब्रिटिश फ़िल्म इंस्टिट्यूट एवं ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

11- रंगराजन, सी. के। (1998)। *इंडियन इकॉनॉमी: एसेज़ ऑन मनी एंड फाइनेंस*। हैदराबाद: यूनिवर्सिटीज़ प्रेस।

12- पिंटो, एम.एस. (2024)। इवोल्यूशन ऑफ पॉपुलिज़्म इन हिंदी सिनेमा ऑफ इंडिपेंडेंट इंडिया: फ्रॉम सोशलिस्ट टू नेशनलिस्ट रिप्रेज़ेंटेशन। इन: चाको चेनाट्टुस्सेरी, जे., देशपांडे, एम., हॉन्ग, पी. (संपा०), एन्साइक्लोपीडिया ऑफ न्यू पॉपुलिज़्म एंड रिस्पॉन्सेज़ इन द 21st सेंचुरी। स्प्रिंगर, सिंगापुर। https://doi.org/10.1007/978-981-16-9859-0_303-1

13- कर्माकर, जी., & कैटरॉल, पी. (2025)। *नेशन, नेशनलिज़्म एंड इंडियन हिंदी सिनेमा*। *नेशनल आइडेंटिटीज़*, 27(1–2), 1–11. **https://doi.org/10.1080/14608944.2024.2440753**

14- गेहलावत, अ. (२०२४). *बॉलीपॉलिटिक्स: पॉपुलर हिन्दी सिनेमा और हिंदुत्व*। लंदन: ब्लूम्सबरी